आधुनिक लोकतंत्र में अधिकार से जुड़े प्रश्न और चुनौतियॉ

डॉ० अरविंद कुमार
एसो0 प्रोफेसर–राजनीति विज्ञान विभाग
महामाया राजकीय महाविद्यालय
कौशाम्बी। मो0न0–9450710404

''व्यक्ति साध्य है, साधन नहीं। व्यक्ति अनन्य एवं अतुलनीय है।'' – कांट

''अलग अलग समुहों की जरूरत, संस्कृति, इतिहास, अनुभव और सामाजिक संबंधों से जुड़े उनके नजरिये में अंतर होता है। और यह नीति संबंधी प्रस्तावों और राजनीतिक तार्किकता के अर्थ और नतीजों से जुड़ी उनकी व्याख्या को प्रभावित करता है। यह अंतर सिर्फ इसलिए नहीं होता क्योंकि समुहों के हितों में अंतर या टकराव होता है बल्कि जब समूह सिर्फ अपने लक्ष्यों को हासिल करने की जगह न्याय को बढ़ावा देने की कोशिश करते हैं, तब भी उनकी व्याख्याओं में अंतर होता है। इसलिये सार्वजनिक विचार विमर्श में शामिल करने की प्रामाणिक वचनबद्धता यह मांग करती है कि उनके बीच के अंतरों को दबाया व मिटाया न जाये बल्कि उन्हें मान्यता और सम्मान दिया जाये। इससे यह सुनिश्चित किया जा सकेगा कि इन समूहों के पास खुद को संगठित करने के लिए आवश्यक संसाधन हों और सार्वजनिक फैसलों में उनके जनारिये पर गंभीरता से विचार किया जाए।''

नारीवादी निष्कर्ष

''व्यक्ति समुदाय द्वारा दिये जाने वाले सांस्कृतिक संसाधन के बिना अधूरे हैं। इसलिए सामुदायिक अधीकारों के बिना व्यक्तिगत अधिकार अधूरे हैं। लेकिन समुदायों के बीच शांति बनाए रखने के लिए हम व्यक्तियों के अधिकारों की कुर्बानी नहीं दे सकते। अतः हमें सामुदायिक अधीकारों को सशर्त अधिकारों के रूप में ही देखना ध्स्वीकार करना होगा। और ये सामुदायिकध्सांस्कृतिक अधिकार हमारे बुनियादी अधिकारों, जीवन, स्वतंत्रता, समानता और अधिकारों का दावा करने के अधिकार की अनदेखी नहीं कर सकता।''

समाज

जब व्यक्ति सुरक्षा, आवश्यकता की पूर्ति, मानवीय गरिमा की समृद्धि व आत्मविकास के ध्येय को दृष्टिगत रखते हुए समाधान के सामान्य निष्कर्ष की तलाश में निर्णय में भागीदारी, निर्णय लेने की क्षमता व दावा से युक्त, बराबरी के स्तर पर स्वतंत्र रूप से एक द्सरे से परस्पर अंतःक्रिया करते हैं तब समाज अस्तित्व में आता है। यह एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है, जो मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों ही रूपों में अपना रूपांतरण करती रहती है।

योग्यता

व्यक्ति द्वारा स्वयं की पसंद व प्रकृति के अनुरूप, स्वतंत्र परिस्थिति में स्वैच्छिक रूप से चयनित कार्य दायित्व में सद्गुणसम्पन्न (लोककल्याण व लोक उपयोगिता को सुनिश्चित करने वाला) की स्थिति की प्राप्ति ही उस व्यक्ति की योग्यता कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते विशेष सम्मान का पात्र है, और किसी भी सांसारिक वस्तु के मूल्य से उसकी तुलना नही की जा सकती। प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते अपने आप मे साध्य है, वह किसी अन्य साध्य का साधन नही हो सकता प्रत्येक मनुष्य को इस दृष्टि से देखने की सदिच्छा एक निरपेक्ष आदेश है।

अधिकार सामाजिक जीवन की वह परिस्थिति है जिसमें व्यक्ति बराबरी व स्वतंत्र स्थिति में अपना यथेष्ट, अभीष्ठ, एवं सर्वोत्तम विकास को सुनिश्चित करता है। सामाजिक जीवन की शुरुआत स्वतंत्रता, समानता, परस्पर सम्मान व गरिमा के प्रति सामान्य व सार्वजनीन सहमति व समझौते की भावना से ही साकार होती है। अधिकार व स्वतन्त्रता के सम्बन्ध ग्रीन का यह विचार है कि, नैतिक स्वतंत्रता मनुष्य का उपयुक्त गुण है। सच्ची स्वतंत्रता अथवा चेतना के स्वतन्त्र प्रवाह हेतु स्वतन्त्र परिवे"ा/अधिकार एक जरुरी शर्त है। अतः अधिकार मनुष्यो के नैतिक चरित्र से जन्म लेते हैं। अधिकारों की व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक मनुष्य यह स्वीकार करता है कि उसे स्वयं और उसके साथियों को आदर्श उद्देश्यों की साधना का समान अधिकार है। मनुष्य नैतिक प्राणी है तथा उसके आदर्श एक जैसे हैं। अतः भिन्न–भिन्न मनुष्यों के अधिकारों में कोई अंतर्विराध नहीं है। इसतरह अधिकार का स्रोत समाज है न कि राज्य। अतः अधिकार राज्य या कानून की मान्यता पर आश्रित नहीं है, बल्कि समाज की मान्यता पर आश्रित है जिसका सही स्रोत समुदाय की चेतना है। और यह नैतिक चेतना ही राज्य की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है, तथा राज्य आदर्श उद्देश्यों की सिद्धि का साधन है न कि स्वयं मे साध्य है। राज्य दायित्व अधिकारों को सिर्फ मान्यता देना है, अतः उसका कार्य अधिकारों का सृजन नहीं है। साथ ही राज्य के समस्त सकारात्मक कानून की कसौटी का आधार नैतिक चेतना ही है। मानवीय चेतना स्वतंत्रता को ही समस्त चिंतन का आधार मानती है तथा स्वतंत्रता का विचार स्वतन्त्र पॅरिवे ा के बिना बेमानी व निरर्थक हैं और यह स्वतन्त्र पॅरिवे ा के प्राप्ति की सुॅनि िचतता ही अधिकार कहलाता है। अतः व्यक्ति व समाज द्वारा इस स्वतन्त्र पॅरिवे ा की प्राप्ति के सुॅनि चयन हेतु ही राज्य को अपरिहार्य बताया गया है। अधिकार राज्य या कानून की मान्यता पर आश्रित नही है, बल्कि समाज की मान्यता पर आश्रित है जिसका सही स्रोत समुदाय की चेतना है। और यह नैतिक चेतना ही राज्य की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। अतः राज्य आदर्श उद्देश्यों की सिद्धि का साधन है न कि स्वयं मे साध्य है। राज्य अधिकारों को मान्यता देता है उसका सृजन नहीं करता। राज्य के सकारात्मक कानून को भी नैतिक चेतना की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में

व्यक्तियों के बीच आपसी समझौते का विचार इस बात को मान्यता देता है कि व्यक्ति व लोंगो को सिर्फ साधन नहीं मानना चाहिए। अतः लोगों को अपने आप में साध्य मानते हुए ही व्यवहार करना चाहिए।

इस तरह जब समाज अस्तित्व में आता है तब सामाजिक व्यवहार की आवश्यकता होती है। साथ ही सामाजिक व्यवहार की नीतियों की आवश्यकता भी होंगी। और इन सामाजिक नीतियों के परीक्षण हेतु सामाजिक समझौता भी आवश्यक होगा तथा यह सामाजिक समझौता ऐसा होगा जिसमें समाज (व्यक्ति, समूह व समुदाय अपनी अलग–अलग अस्मिता व पहचान के विभिन्न स्तरों पर) का हर व्यक्ति यह मूल्यांकन कर सकेगा कि, ये नीतियां उनके सामान्य हितों को पूरा करती ह या नहीं। इस तरह अधिकार अपने सकारात्मक अर्थ में समाज या राज्य पर यह दायित्व सौपता है कि, वे व्यक्ति के आत्मविकास के समस्त सोपानों को तय व सम्पन्न करने में सहयोग करें जिससे कि वह अपने जीवन का संपूर्णता में आनन्द उठा सके। अतः अपने प्रारंभिक दौर में यह अधिकार सामान्यतया स्वास्थ्य का अधिकार, एवं बुनियादी जीविका का अधिकार था जिस हेतु राज्य व समाज के सकारात्मक हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। सकारात्मक अधिकार में अधिकार–पर्यवेक्षक (समाज अथवा राज्य) पर यह दायित्व होता है कि, वे अधिकार–धारक द्वारा अधिकारों के इस्तेमाल को सुनिश्चित करने में उनकी मदद करे। सकारात्मक अधिकार मुख्यतः नैतिक, कानूनी, मानवाधिकार या नागरिक, राजनीतिक व समाजिक अधिकार के रूप में जाने जाते हैं।

सामान्यतः अधिकारों का अधिकांश भाग सरकारों के हस्तक्षेप के खिलाफ अधिकार के रूप में ही रहा है। इसतरह से लोकतांत्रिक देशों में कानून के द्वारा कार्यपालिका के कार्यों को नियंत्रित व सीमित करते हुए नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान किया जाता है। अधिकार की इस प्रकृति को नकारात्मक अधिकार की कोटि में रखा जाता है। अतः अपने सामान्य अर्थ में अधिकार ''वह देय हासिल करने से है, जो व्यक्ति को मनुष्य, नागरिक, व्यक्ति या किसी समूह, समुदाय व समाज का सदस्य होने के आधार पर मिला होता है।'' उसे प्राप्त करना। इस तरह अधिकार होने का अर्थ यह है कि, हम किसी वस्तु के हकदार हैं या हमें कोई कार्य करने की आजादी है। जैसे कि, हमे वोट देने, शिक्षा प्राप्त करने, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना व स्वास्थ्य सेवा हासिल करने का अधिकार इत्यादि। आखिर ऐसा क्या है जो एक को कोई काम करने का हक देता है तो दूसरे को उस काम को करने देने का दायित्व सौपता है, जबकि दोनों एक ही सामाजिक व्यवस्था के सदस्य होते हैं तथा दोनों एक हो कानूनी व वैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत आते हैं। समाज के कानून द्वारा ही हमे अधिकार और इससे जुड़े दायित्व मिलते हैं। इनमें कुछ नैतिक अधिकार (इसमें यह जरूरी नहीं कि ये नैतिक अधिकार कानूनी हों) और दायित्व भी होते हैं। अतः सभी अधिकार कानूनी नही होत। इसलिए अधिकार और उससे जुड़े दायित्व बुनियादी रूप से समाजिक होते हैं। इसतरह किसी

भी व्यक्ति के पास समाजिक समूह का सदस्य होने के कारण ही अधिकार होते हैं और यह सामाजिक समूह समाज या राष्ट्र हो सकता है। इन अधिकारों को समाज या राष्ट्र से मान्यता की आवश्यकता होती है। इसलिए अधिकार वे दावे हैं जिन्हें कानूनी, नैतिक या मानवीय आधारों पर जायज व उचित ठहराया जा सकता है। तथा इन समस्त अधिकारों का औचित्य व्यक्ति व समुदाय को सामाजिक समूह का सदस्य होने के कारण ही प्राप्त होता है। वह अधिकार जिसकी व्यक्ति द्वारा माग की जा रही है, सामाजिक सदस्य के रूप में अपनी भूमिका को समुचित रूप से निभाने के लिए जरूरी है। अतः व्यक्ति द्वारा किसी अधिकार का दावा किये जाने का अर्थ यह है कि, वह समूह के दूसरे सदस्यों के अधिकारों का सम्मान करने का दायित्व बोध भी रखे। अधिकार दो पक्षों के मध्य एक निश्चित प्रकार का संबंध की अभिव्यक्ति है। और ये दो पक्ष हैं, जिसमें एक 'अधिकार–धारक' (व्यक्ति) है तथा दूसरा 'अधिकार पर्यवेक्षक' अर्थात् समाज व राज्य। अधिकार शब्द का पयोग सामान्यतः दो अर्थों में किया जाता है:–

1. किसी व्यक्ति द्वारा कोई वस्तु हासिल करने का अधिकार, तथा
2. किसी व्यक्ति के पास कोई निश्चित काम करने का अधिकार।

पहले अर्थ में अधिकार का अस्तित्व अधिकारधार्ता के अलावा किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बंधित है, जब हम यह कहते हैं कि हमारे पास कोई अधिकार है तो इसका अर्थ यह है कि, किसी व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह मुझसे एक खास तरीके का व्यवहार करे। अपने दूसरे अर्थ में अधिकार अधिकारधार्ता पर एक खास तरीके से काम करने का नैतिक दायित्व सौपता है। अतः अधिकारधार्ता नैतिक रूप से उस काम को करने को स्वतंत्र है। इसतरह अधिकारधार्ता के दृष्टिकोण से अधिकार कोई काम करने और अपना अस्तित्व बनाये रखने की आजादी है और यही अधिकार अधिकार–पर्यवेक्षक हेतु उसका दायित्व व कर्तव्य ह। साथ ही इसका नकारात्मक पक्ष यह है कि, अधिकार–धारक द्वारा अपने अधिकारों के इस्तेमाल करने में किसी हस्तक्षेप को रोकना। तथा इसका सकारात्मक पक्ष, अधिकारधार्ता के अधिकारों के इस्तेमाल करने में अधिकार–पर्यवेक्षक (समाज व राज्य) सहयोग प्रदान करे।

नागरिक अधिकार

लोकतांत्रिक राज्य में समान कानूनी हैसियत प्राप्त करना। अतः समान हैसियत प्राप्त करने के लिए जो कानूनी अधिकार चाहिए उनमे सबसे बुनियादी अधिकार नागरिक अधिकार ही है। इसमें व्यक्तिगत, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार शामिल हैं। इस तरह नस्ल रंग, लिंग, धर्म, राष्ट्रीय मूल या विकलांगता के आधार पर कानूनी रुप से किसी व्यक्ति को इन अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता है। नागरिक अधिकार में सामान्यतः–

1. संपत्ति रखने का अधिकार।
2. अपना धर्म मानने का अधिकार।
3. समझौता करने और उसे लागू करने का अधिकार।
4. कानून की सहायता लेने का अधिकार।
5. अभिव्यक्ति और प्रेस की आजादी।
6. भोजन, आवास, स्वास्थ्य सेवा और रोजगार के अधिकार (19वी सदी में दूसरी पीढ़ी के आंदोलनों में जोड़े गए)

इत्यादि अधिकारों को शामिल किया जाता है, जबकि राजनीतिक अधिकार के अंतर्गत सार्वजनिक पद लेने के अधिकार, वोट देने का अधिकार तथा न्यायालय में बयान देने का अधिकार इत्यादि राजनीतिक अधिकार की श्रेणी में आते हैं और यह सिर्फ वयस्कों को ही प्राप्त हैं। हालांकि 20वी सदी के मध्य तक नागरिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकारों से अलग माना जाता था। इसका प्रमुख कारण पुरुषसत्तात्मक समाज था जो एक खास तरह की विचारधारा से संचालित था जिसके अनुसार महिलाओं को ऐसे नागरिकों की संज्ञा दी गई थी जिनके पास कुछ अधिकार तो थे परंतु सभी अधिकार नहीं। अतः स्त्रियों को नागरिक अधिकार तो कमोबेश प्राप्त थे परन्तु राजनीतिक अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं थे। जैसे ही यह विचारधारा कमजोर हुई नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकार के बीच का अंतर भी खत्म हो गया। इस तरह उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य में सभी नागरिक ''समान बुनियादी स्वतंत्रताओं की एक पूर्ण और व्यापक योजना''(रॉल्स) के हकदार हो गए।

उदारवादी लोकतांत्रिक राज्यों/समाजों में अधिकार और सामाजिक सुरक्षा का संकट

उदारवादी लोकतांत्रिक राज्यों/समाजों में काम के अधिकार और सामाजिक सुरक्षा के अधिकार के अधिकारधार्ता के दावे को पूर्ण करने के रास्ते में अवरोध खड़ा कर दिया है जिसने वैश्विक स्तर पर अन्य–अनेक रूपों में एक विषमता पैदा कर दिया है। अतः हाल के वर्षों में विशेषकर 20वी सदी में तीसरी पीढ़ी के आंदोलनों में इन दावों को प्रमुखता से उठाया गया तथा मोटे तौर पर इन्हें ''सांस्कृतिक सदस्यता के अधिकार'' कहा जाता है। इनमें सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के लिए भाषा का अधिकार, मूल निवासियों या देशज लोंगो का अपनी सांस्कृतिक संस्थाओं और परम्पराओं की सुरक्षा करने का अधिकार तथा समूहों का राजनीतिक स्वायत्तता हासिल करने का अधिकार। इसतरह सांस्कृतिक सदस्यता का अधिकार अत्यधिक व्यापक व विवादास्पद है जिसपर निर्णय करना अत्यधिक चुनौतिपूर्ण कार्य रहा है। काण्ट का तर्क है कि, कोई भी व्यक्ति या वस्तु स्वयं में विशेष, अनन्य व अतुलनीय ह, अतः किसी भी व्यक्ति या वस्तु का किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु से तुलना नहीं की जा सकता है।

जब किसी वस्त या हित की सुरक्षा का कोई विशिष्ट नैतिक कारण हो तभी यह कहा जाता है कि उस वस्तु या हित से अधिकार जुड़ा हुआ है। किसी सामूहिक लक्ष्य के आधार पर व्यक्तियों की व्यक्ति के रूप में इच्छा को नकारा जाता है, या सामूहिक लक्ष्य के नाम पर उन्हें उनकी इच्छानुसार काम करने या मनपसंद वस्तुएं रखने से रोका जाता है और व्यक्ति यह मानते हैं कि यह सामूहिक लक्ष्य उन्हें नुकसान की स्थिति में रखने या चोट पहुंचाने का कोई पर्याप्त कारण नहीं है तो ऐसी स्थिति में व्यक्तियों के पास अधिकार होते हैं, और यदि किसी व्यक्ति की भलाई के लिए किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों पर कर्तव्य आरोपित करना सही लगे तो वहाँ अधिकार का अस्तित्व होता है। (रेंज, जोसेफ य 'मल्टिकल्चरिज्मः अ लिबरल पर्सपेक्टिव्स' संकलित, जोसेफ रेंज(सं.), एथिक्स इन पब्लिक डोमेनः एसेज इन द मोरैलिटी ऑफ लॉ एंड पॉलिटिक्स संशोधित संस्करण–ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस,1995)।

इन सब में सबसे जरूरी बात ये है कि व्यापक नैतिक चिंताओं के खिलाफ व्यक्तियों के महत्वपूर्ण हितों की सुरक्षा की जानी चाहिये क्योंकि समाज को अधिकार देने से व्यक्तिगत अधिकार खत्म हो जाएंगे क्योंकि दोनों में होड़ होने पर समाज के अधिकारों को ही वरीयता दी जाएगी। जबकि यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि व्यक्ति अणु के रूप में न होकर सांस्कृतिक रूप से समाहित होते हैं और किसी व्यक्ति के शुभ और कल्याण का विचार उसकी संस्कृति से जुड़ा होता है। (हर्टने,माइकल; *सम कन्फ्यूजन कन्सर्निंग कलेक्टिव राइट्स, 1991*)। अधिकार सम्बन्धी अनेक सिद्धांत हैं, जिनमें प्राकृतिक अधिकार, अधिकार का उपयोगितावादी सिद्धांत, अधिकार का स्वतंत्रतावादी सिद्धांत, अधिकार पर रॉल्स के विचार तथा मानव अधिकार प्रमुख है।

रॉल्स के विचार में व्यक्तियों के पास अपने लक्ष्यों और खुद के द्वारा चुनें गए उत्तम जीवन को पाने हेतु जरूरी साधन हों तथा न्यायपूर्ण समाज के लिये समाज को एक गहरे रूप में समतावादी होना होगा। हमें समाज के दूसरे लोगों से मिलकर न्याय के ऐसे सिद्धांतों के बारे में सहमत होना है, जिनसे हमारा समाज शासित होगा। साथ ही लोगों को अपने आप में साध्य मानते हुए व्यवहार किया जाना चाहिए। सामाजिक नीतियों के परीक्षण में सामाजिक समझौता एक ऐसा काल्पनिक आधार देता जिसमें समाज का हर व्यक्ति यह मूल्यांकन कर सकता है कि ये नीतियां उसके हित में हैं या नहीं।

उपयोगितावाद में व्यक्ति पर विशिष्ट रूप स ध्यान न देकर व्यक्तियों के कल्याण को ही सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। इसलिये व्यक्तियों के कल्याण के कूल योग को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने पर जोर दिया जाता है, जबकि न्याय के एक समुचित सिद्धांत को व्यक्तियों की विशिष्टता को ध्यान में रखना चाहिए और उसे पर्याप्त महत्व देना चाहिए। अतः रॉल्स इसे निष्पक्षता के रुप में न्याय को महत्वपूर्ण मानते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सबसे विस्तृत स्वतंत्रता का ऐसा समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए जो दूसरों के वैसी ही स्वतंत्रता के साथ

निभ सके। तथा आर्थिक और सामाजिक विषमताएं इसप्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिये जिससे कि, सबसे हीनतम स्थिति वालों को अधिकतम लाभ हो, और ये विषमताएं उन पदों और स्थितियों के साथ जुड़ी हो जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिए सुलभ हों। नॉजिक ने अपनी पुस्तक Anarchy, State and Utopia (1974) में रॉल्स के A Theory of Justice का स्वतंत्रतावादी जवाब प्रस्तुत किया है। नॉजिक अपनी पुस्तक में स्वतंत्रता के असीम अधिकार पर (विशेषकर सम्पत्ति के मामले में) बल देते हैं और मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था का समर्थन करते हैं। और इस संदर्भ में राज्य के किसी भी हस्तक्षेप को अस्वीकार करते ह। आधुनकि लोक कल्याणकारी राज्य में मानव अधिकार सबसे प्रमुख मुद्दा बनकर उभरा है, जैसे कि सुरक्षा का अधिकार, स्वतंत्रता अधिकार, राजनीतिक अधिकार, उचित प्रक्रिया का अधिकार, समानता का अधिकार, कल्याणकारी अधिकार तथा जातीय समुहों को सामूहिक जनसंहार के खिलाफ सुरक्षा पाने का अधिकार तथा राष्ट्रीय भू–क्षेत्र और उसके संसाधनों पर स्वामित्व का अधिकार।

अधिकार से जुड़े वर्तमान विमर्श

समान्यतः आज अधिकार से जुड़े तीन विम"ार प्रमुख हैं,–

1. समुदायवादी दृष्टिकोण।
2. बहुसांस्कृतिक दृष्टिकोण।
3. नारीवादी दृष्टिकोण।

समुदायवादी दृष्टिकोण

समुदायवादी पूर्व की अवधारणाओं की आलोचना का आधार यह हैं कि, ये संसाधनों के वितरण में व्यक्ति को इकाई मानते हैं। तथा उदारवादी सिद्धांत को व्यक्तिगत अधिकार और आजादी की अवधारणा मानते हैं और यह आरोप लगाते हैं कि, यह इस बात की उपेक्षा करता है कि व्यक्तिगत आजादी और भलाई को सिर्फ समुदाय के भीतर ही मुमकिन है। उदारवादी न्याय को अऐतिहासिक और बाहरी कसौटी के रूप में मानते हैं इसलिए ये इसकी गलत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उदारवादी न्याय को इस रुप मे देखते हुए हर समाज की जीवन शैली की आलोचना करते हैं।

उपयोगितावादी, उदारवादी, समतावादी और स्वतंत्रतावादी न्याय की अंतर्वस्तु (Content) को लेकर असहमत हो सकते है परंतु वे सभी इस बात को मानकर चलते हैं कि, हर समाज को उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत को पूरी तरह से मानना चाहिए। वे इस आलोचना को बहुत महत्व नहीं देते कि, उनके सिद्धांत का स्थानीय मान्यताओं से टकराव हो सकता है। हालांकि उदारवादी न्याय की विवेचना एक बिंदु के रुप में स्वीकार करते हैं। न्याय का उनका सिद्धान्त हमारे विश्वासों पर यह सवाल करता है और यह सुनिश्चित करता है कि वे स्थानीय पूर्वाग्रह न हों। आखिर राजनीति सिद्धांत इस बारे में हमें कुछ नहीं बता सकता कि हम अपना अभिशासन कैसे करें? यह सिर्फ उन मनोवेगों के खिलाफ संघर्ष कर सकता है, जो हम हमारी संस्कृति की ओर ले जाते हैं। यह हमें 'सामान्यता' (Generally) और 'चिन्तनमूलक आधार' (Reflective basis) उपलब्ध करा सकता है जिससे हम यह फैसला कर सकें कि, हमारी कौन सी पारंपरिक विशिष्टताएं और भेदभाव प्रामाणिक है और कौन से अप्रामाणिक हैं। समुदायवादियों का तर्क है कि,–

1. हर व्यक्ति अपनी संस्कृति से गहरे रूप में समाहित होता है इसलिये व्यक्ति पर ध्यान देने के बजाय समुदाय या समूह से जुड़ी उसकी पहचान पर ध्यान दिया जाना चाहिये।
2. यदि हम मनुष्यों की समाज पर निर्भरता को मान्यता दे देते हैं तो समाज के सामान्य हित को कायम रखने का हमारा दायित्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हमारे अधिकार जितना मजबूत हो जाता है। माइकल सेल्डिंग (Liberalism and the Limits of Justice,-1982) का तर्क है कि,–
   1. उदारवाद बहुत से गलत तत्वमीमांसीय और अति–नैतिक दृष्टिकोण पर आधारित है, विशेषकर न्याय से जुड़े मामले म।
   2. इसमें यह माना जाता है कि हम एक दूसरे को इतना नहीं जान सकते कि, हम सामान्य लक्ष्यों में सहभागिता करें और हम सामाजिक लक्ष्यों से स्वतंत्र होकर अपनी व्यक्तिगत पहचान को परिभाषित कर सकते हैं।

अतः समुदायवादी उदारवादी ''अधिकारों की राजनीति'' की जगह ''सामान्य हित की राजनीति'' को अपनाने का तर्क देते हैं।

बहुसांस्कृतिक दृष्टिकोण

वर्तमान समय की एक मुख्य सैद्धांतिक और व्यवहारिक समस्या यह है कि, राजनीतिक समानता की आकांक्षाओं और उदारवादी लोकतांत्रिक राज्यों की सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता में किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया जाए..? उदारवादी लोकतांत्रिक राज्यों में

''सार्वभौमिक नागरिकता'' के सिद्धांत को अपनाया गया है। जिसके अंतर्गत यह विचार केंद्रित है कि, सभी व्यक्तियों के साथ ''समान सरोकार और सम्मान'' का व्यवहार किया जाना चाहिए। लोकतांत्रिक समानता के सिद्धांतकारों और राजनीतिक आंदोलनों ने लोकतांत्रिक राज्य के सार्वभौमिक नागरिकता के सिद्धांत की आलोचना करते हैं तथा इस बात पर बल देते हैं कि, ''सिर्फ सार्वभौमिक नागरिकता के सिद्धांत के आदर्श से सबको समान अधिकार देने का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि सार्वभौमिक नागरिकता का आदर्श विभेद–अंधता (Difference blindness) पर आधारित है। इस तरह यह आदर्श वास्तविक न होकर औपचारिक ही है। अतः वास्तविक समानता, ''एक जैसा व्यवहार'' करके सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है ,बल्कि इस हेतु सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति को भी ध्यान में रखना होगा। जातीय और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए समूह अधिकारों का समर्थन करने वाले विद्वानों का मानना है कि, सभी नागरिकों के साथ प्रामाणिक समानता (genuine Equality) के व्यवहार को सुनिश्चित किया जाए।

इस सिद्धांत का सार तत्व यह है कि विभिन्न समुहों के बीच अंतर को समायोजित किया किया जाए। इस तरह हमारे बीच के अंतर को समायोजित करने हेतु ही ''समूह अधिकारों'' की जरूरत है। सच्ची समानता के लिए यह यह जरूरी है कि व्यक्तियों के बीच नस्ल, जातियता के आधार पर भेदभाव किये बिना हर किसी को समान अधिकार दिये जाएं। लेकिन कुछ अल्पसंख्यक अधिकार असमानताओं को उत्पन्न करने की जगह उन्हें खत्म करते हैं। सांस्कृतिक बाजार में कुछ समूह गलत तरीके से वंचना के शिकार होते हैं राजनीतिक मान्यता तथा समर्थन इस वंचना को दूर करते हैं। बहुसंख्यको द्वारा लिए गए आर्थिक और राजनीतिक निर्णयों के कारण राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की सामाजिक संस्कृति की उपेक्षा हो सकतो है तथा नीतियों को तय करने या संसाधनों का वितरण करने में प्रभावहीन हो सकते हैं। परिणामतः उन्हें अपनी सामाजिक संस्कृति का अस्तित्व बनाये रखना बहुत ही मुश्किल हो जाएगा।

आज जिस तरह उदारवादी लोकतांत्रिक राज्यो में आदिवासी समुदाय के साथ ही अन्य सामाजिक संस्कृतियों को विकास और आधुनिकता के नाम पर जिस तरह उनकी पहचान को खत्म किया जा रहा ह, बहुत ही खतरनाक और अन्यायपूर्ण है। अतः अल्पसंख्यक सामाजिक संस्कृति के सदस्यों को अल्पसंख्यक अधिकार देकर उनके नुकसान को खत्म किया जाना चाहिए। समूह विभेदीकृत अधिकारों (Group&Differentiated Rights) में, –

1. भू–क्षेत्रीय स्वायत्तता।
2. वीटो करने की शक्ति।

3. प्रतिनिधित्व की गारंटी।
4. जमीन पर दावा, और
5. भाषा अधिकार शामिल हैं।

ये उपर्युक्त अधिकार अल्पसंख्यक संस्कृतियों को बहुसंख्यकों के फैसलों के खिलाफ सुरक्षा देकर उनकी कमजोर स्थिति को दूर कर सकते हैं। इसी तरह अपनी संस्कृति और विभेदों की सुरक्षा के लिए अल्पसंख्यक समूह विशेष अधिकारों की मांग करते हैं। इसपर यह सवाल हो सकता है कि –

1. क्या कुछ लोगों को विशेष अधिकार देना समानता के विचार के खिलाफ नहीं है ?
2. क्या सभी अल्पसंख्यक समूहों को समूह विभेदीकृत अधिकार दिये जाने चाहिए ?
3. यदि समूह विभेदीकृत अधिकार देने पर अल्पसंख्यक समूह अपने लिये अलग राज्य की मांग करने लगे तो क्या किया जा सकता है।
4. ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय अखंडता का क्या होगा ?
5. महिला अधिकारों के सम्बंध में समस्या का निदान क्या होगा ?

ये कुछ समूह विभेदीकृत अधिकार से उपजे सवाल हैं, जिनका समाधान किया जाना है। बहुसास्कृतिवाद महिला अधिकारों के सम्बंध में समस्या का निदान नही दे सका है। इसका कारण अधिकांश संस्कृतियों का पुरूषवादी मानसिकता से ग्रस्त होना रहा है। साथ ही इस सिद्धांत ने राष्ट्र–राज्य की उदारवादी अवधारणा के समक्ष चुनौती पेश की है कि, यह भारत मे **कश्मीर और उत्तर–पूर्वतथा श्रीलंका में तमिलों** जैसे समूहों के पृथकतावादी आन्दोलनों को बढ़ावा दे सकता है। अतः इस तरह के विचारो पर विमर्श किये जाने की नितांत आवश्यकता है। बहुसास्कृतिक अल्पसंख्यकों के अधिकार दिए जाने सम्बन्धी कुछ व्यवहारिक प्रश्न इसप्रकार हैं कि,–

1. क्या समुदायो को उनकी संस्कृति की सुरक्षा हेतु विशेष अधिकार दिए जाने चाहिए।
2. क्या उन्हें यह हक है कि, अपने समुदाय में प्रचलित सभी परम्पराओं या प्रथाओं की सुरक्षा करे.?
3. क्या किसी विशिष्ट जीवन शैली की सुरक्षा के लिए मौजूदा सभी परम्परायें बहुत महत्वपूर्ण हैं ?
4. क्या कुछ ऐसी न्यूनतम परिस्थितियां होनी चाहिए, जिन्हें सभी संस्कृतियों को अपनानी ही चाहिए..?

उपरोक्त सभी प्रश्न अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं जिनका गहराई से विश्लेषण किये जाने की आवश्यकता है। साथ ही इस सम्बन्ध में समुहों के भीतर समानता के मुद्दे पर भी विचार किया जाना महत्वपूर्ण होगा।

बहुसंस्कृतिवाद के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न

बहुसस्कृतिवाद ने राष्ट्र–राज्य के भीतर अल्पसंख्यकों की स्थिति से जुड़े अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े किये हैं :–

1. उदारवादी लोकतंत्रों द्वारा निर्धारित नीतियाँ अल्पसंख्यकों के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त होती हैं।
2. बहुसस्कृतिवाद ने उदारवादी राज्यों को यह विश्लेषण करने को बाध्य किया है कि, क्या उनकी सामाजिक–सांस्कृतिक नीतियां अल्पसंख्यक संस्कृतियों के प्रति पूर्वाग्रह रखती हैं।
3. उत्तर–आधुनिकतावाद की तरह बहुसस्कृतिवाद ने भी सार्वभौमिक सिद्धांतों के खिलाफ आवाज उठाए हैं।
4. बहुसंस्कृतिवाद ने इस बात पर जोर दिया है कि, अधिकार, न्याय, समानता, उत्तम जीवन, मूल्य–व्यवस्था और उसके बारे में एकमात्र मानक या ''आंग्ल–अमेरिकी मॉडल'' को भारतीय संदर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बहुसंस्कृतिवाद की यह मान्यता यह है कि, सशक्त सामुहिक लक्ष्य रखने वाला समाज भी उदारवादी हो सकता है। हालांकि इसके लिए उसका विविधता को सम्मान करने में सक्षम होना आवश्यक है। विशेषकर उन विविध सामाजिक समुहों के प्रति जो सामान्य लक्ष्यों को नही अपनाते। इसके लिए यह भी आवश्यक होगा कि, वह अपने नागरिकों के मौलिक अधिकारों के लिए पर्याप्त सुरक्षा देते हों। यह कार्य कठिन तो है लेकिन नामुमकिन नहीं है। उदारवादी राज्यों द्वारा अपने ताकत के बल पर अपनी संस्कृति को दूसरे पर थोपा जा रहा है जिसका बहुसंस्कृतिवाद विरोध करता है।

आमतौर पर बहुसंस्कृतिक समाजों में सांस्कृतिक समुदाय ऐसे अधिकारों की मांग करते है, जिन्हें वे अपनी सामूहिक पहचान को कायम रखने के लिए आवश्यक मानते हैं। सामान्य तौर पर इन अधिकारों को –

1. समूह (group)
2. सामूहिक(collective), या
3. सामुदायिक(communal)

अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों को उदारवादी न्यायप्रणाली म समायोजित करना आसान नहीं है, और इनको अपनाने से अन्य कई नए सवाल खड़े हो जाते हैं,जैसे कि –

1. क्या सामूहिक अधिकारों की संकल्पना को तार्किक रूप से सही माना जा सकता है ?
2. किस तरह के समूह इसतरह के अधिकारों की मांग कर सकते हैं ?

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि, ''जिस तरह से **व्यक्तिगत अधिकार** वे अधिकार हैं, जिन्हें व्यक्ति धारण करता है, उसी तरह **सामूहिक अधिकार** वे अधिकार हैं, जिन्हें मनुष्यों की समुहिकताओं द्वारा धारण किया जाता है। ये सामूहिकताएं कई तरह की होती हैं, और इनमें अल्पकालिक और दीर्घकालिक सामान्यहितों के आधार पर जुड़े समूहों को शामिल किया जाता है। इसके अतिरिक्त इनमें ऐसे ऐतिहासिक समूह भी आ सकते हैं जिनकी साझी जीवनशैली है।

नारीवादो दृष्टिकोणः नारीवाद से जुड़े प्रश्न एवम् उनके तर्क

नारीवादियों क अनुसार न्याय को एक समूह के दृष्टिकोण से समझना जाना चाहिये। क्योंकि न्याय को लेकर किसी व्यक्ति का नजरिया तय करने में समूह या समुदाय महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। नारीवादी मानते हैं कि, न्याय के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर आधारित सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्थाएं पूर्वाग्रह से ग्रसित होती हैं। ऐसा करने का प्रमुख कारण यह है कि, व्यवस्थाओं का निर्माण प्रभुत्वशाली पुरूष व्यक्ति द्वारा किया जाता है इसमें महिलाओं और हाशिये पर पड़े दूसरे अन्य समुहों के हितों को कोई महत्व नहीं दिया जाता है। इस प्रकार की राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्थाओं में पुरूषों का महिलाओं पर या विशेषधिकारयुक्त लोगों द्वारा हाशिये के लोगों पर प्रभुत्व होता है। इस तरह के समाज की स्थिति बेहद खराब होती है। अतः न्याय के किसी भी प्रभावशाली तरीके से बनाने हेतु इन उपर्युक्त समस्याओं का उन्मूलन आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में महिलाओं का तर्क यह है कि, एक ऐसे समाज मे जहाँ महिलाओं को एक खास तरह की संपत्ति रखने या वोट देने व कुछ खास तरह के काम करने का हक नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी विशिष्ट तरीके से संसाधनों का वितरण कर देने से न्याय को हासिल नही किया जा सकता। संसाधनों का ज्यादा हिस्सा मिलने के वावजूद भी यह तथ्य अपनी जगह मौजूद है कि इस तरह के समाजा में महिलाएं आंशिक रूप से अधीनता की स्थिति में रहती हैं। इसी आधार पर सुसेन मोलर ओकिन(Justice: Gender and the Family;1989) ने रॉल्स के न्याय सिद्धांत की समीक्षा करते हुए कहती हैं कि, रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धांत में 'जेंडर–तटस्थता' का दावा किया हैं।

रॉल्स की ''मूल स्थिति'' में बहुत सी ऐसी अप्रत्यक्ष मान्यताएं शामिल हैं जो समाज की जेंडर आधारित संस्थाओं को ज्यों का त्यों शामिल कर लेती है। अतः इसमें यह खतरा है कि, इससे समाज म महिलाओं की असमान स्थिति में वृद्धि होगी। रॉल्स की 'मूल स्थिति' में भाग

लेने वाले समझौताकार परिवारों के मुखिया हैं, वे कमानेवाली श्रमशक्ति का हिस्सा हैं और वे पारंपरिक परिवारों के मुखिया हैं। ओकिन का तर्क है कि जेंडर सम्बन्धी सामाजिक संरचना और परिवार की प्रकृति निश्चित रूप से न्याय के मुद्दों को उठाती है। दरअसल ऐसे समाज मे जहाँ घर का काम मुख्यरूप से महिलाओं द्वारा किया जाता है वहाँ समाज के दूसरे दायरे में भी महिलाओं की असमानता सुनिश्चित हो जाती है। जेंडर संरचना वाले समाज में महिलाएं राजनीतिक स्वतंत्रताओं का उपयोग नहीं कर पाती हैं क्योंकि महिलाओं पर घरेलू श्रम का दायित्व होता है। जिनके कारण उनका अत्यधिक समय और ऊर्जा खर्च हो जाती है। इसलिये उनके पास राजनीतिक एवं अन्य महत्वपूर्ण गतिविधियों के लिए समय व ऊर्जा दोनों ही नहीं बच पाता है। अतः यह दोहरा कार्य दिवस महिलाओं के आत्मविकास में बाधा है। ओकिन का तर्क है कि, आत्मसम्मान के सामाजिक आधार के रुप में काम करने वाली प्राथमिक वस्तुएं पुरुषों को तुलनात्मक रूप से ज्यादा और आसानी से मिल जाती हैं जबकि महिलाओं को यह बहुत ही कम और मुश्किल से मिल पाती है। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे समाजो में महिलाओं के नजरिए पर ध्यान ही नहीं दिया जाता है। पुरूष दार्शनिक महिलाओं के नजरिये का सही तरीके से विवरण ही नही देते। दरअसल उनकी नैतिक तार्किकता में महिलाओं को कोई जगह नही मिलती है। इसी संदर्भ में आयरिश मोरियन यंग यह तर्क प्रस्तुत करती ह कि, सार्वभौमिक नागरिकता के आदर्श मे सार्वभौमिकता के तीन अर्थ शामिल हैं :–

1. हर किसी को पूर्ण नागरिकता मिले और सार्वजनिक जीवन मे भागीदारी में सभी लोंगो को शामिल किया जाए। सार्वभौमिकता के अन्य दो अर्थों से इसका टकराव है।
2. सामान्य हित पर ध्यान केंद्रित करने के रुप में सार्वभौमिकता। यहां सामान्य हित को नागरिकों को बांटने वाले कारकों के बजाए जोड़ने वाले कारकों के संदर्भ में परिभाषित किया गया है।
3. सबके साथ समान व्यवहार के रूप में सार्वभौमिकता। (यहां समान व्यवहार को समूह विभेदों को ध्यान में रखे बिना व्यवहार करने के संदर्भ में परिभाषित किया गया है।)

यंग का मानना है कि सार्वभौमिकता को पाने के लिए सामान्य हित के सम्बंध में विचार विमर्श और अधीकारों के आबंटन में विभेदीकृत नागरिकता को अपनाना होगा। यंग वर्तमान गणतंत्रवादी परम्परा की आलोचना करती है और कहती है कि, समकालीन गणतंत्रवादी इस बात पर जोर देते हैं कि, नागरिकों के बीच कौन कौन सी बातें समान हैं और ऐसा करते समय समूहों के विभेदों की अपेक्षा करते है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि ये समूह विभेदों को जबरन मिटाकर एक जैसा करने का प्रयास किया जाता है।

निष्कर्ष

अलग अलग समुहों की जरूरत, संस्कृति, इतिहास, अनुभव और सामाजिक संबंधों से जुड़े उनके नजरिये में अंतर होता है। और यह नीति संबंधी प्रस्तावों और राजनीतिक तार्किकता के अर्थ और नतीजों से जुड़ी उनकी व्याख्या को प्रभावित करता है। यह अंतर सिर्फ इसलिए नहीं होता क्योंकि समुहों के हितों में अंतर या टकराव होता है, बल्कि जब समूह सिर्फ अपने लक्ष्यों को हासिल करने की जगह न्याय को बढ़ावा देने की कोशिश करते हैं तब भी उनकी व्याख्याओं में अंतर होता है। इसलिये सार्वजनिक विचार विमर्श में शामिल करने की प्रामाणिक वचनबद्धता यह मांग करती है कि उनके बीच के अंतरों को दबाया व मिटाया न जाये बल्कि उन्हें मान्यता और सम्मान दिया जाये। इससे यह सुनिश्चित किया जा सकेगा कि इन समूहों के पास खुद को संगठित करने के लिए आवश्यक संसाधन हों और सार्वजनिक फैसलों में उनके नजरिये पर गंभीरता से विचार किया जाए। व्यक्ति समुदाय द्वारा दिये जाने वाले सांस्कृतिक संसाधन के बिना अधूरे हैं। इसलिए सामुदायिक अधीकारों के बिना व्यक्तिगत अधिकार अधूरे हैं। लेकिन समुदायों के बीच शांति बनाए रखने के लिए हम व्यक्तियों के अधिकारों की कुर्बानी नहीं दे सकते। अतः हमें सामुदायिक अधीकारों को सशर्त अधिकारों के रूप में ही देखना व स्वीकार करना होगा और ये सामुदायिक व सांस्कृतिक अधिकार हमारे बुनियादी अधिकारों जीवन, स्वतंत्रता, समानता जैसे अधिकारों का दावा करने के अधिकार की अनदेखी नहीं कर सकता।

संदर्भ सूचीः–

1. चौधरी, देबा"ाष रॉय एण्ड जॉन कीन; *टु कील ए डेमोक्रेसी,* मैकमीलन, नई दिल्ली, 2021।
2. राय अरुन्धति; *कठघरे में लोकतंत्र,* राजकमल प्रका"ान, नई दिल्ली, 2014
3. डॉ0 नामदेव; *जोतिबा फुलेः आधुनिक सामाजिक कांति के अग्रदूत,* राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली,2017।
4. मिल, जॉन स्टुअर्ट; *स्त्रियों की पराधीनता,* राजकमल प्रका"ान प्रा. लि. नई दिल्ली, 2009।
5. केई, एफ0ई0 अनु0 कंवल भारती; *कबीर और कबीरपंथ,* फारवर्ड प्रेस, नई दिल्ली, 2023।
6. सेन, अमर्त्य अनु0 'नरे"ा नदीम', *विषमताः एक पुनर्विवेचन,* राजकमल प्रका"ान, नई दिल्ली,2023।
7. पुनियानी,राम (संपादित); *धर्म, सत्ता, और हिंसा, राजकमल प्रका"ान, नई दिल्ली,2019।*
8. बाबा साहेब, *डॉ0 अम्वेडकर सम्पूर्ण वांड़मय, खण्ड–10,* डॉ0 अम्वेडकर प्रतिष्ठान,सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,भारत सरकार, नई दिल्ली, 2000।
9. लिंबाले, शरणकुमार; *रामराज्यः कहां है लोकतंत्र, वाणी प्रका"ान, नई दिल्ली, 2022।*
10. जाफलो, किस्तोफ (अनु0 योगेन्द्र दत्त), *भीमराव आंबेडकर एक जीवनी (जाति–उन्मूलन का संघर्ष एवम् विश्लेषण),* राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, 2023।
11. मुद्राराक्षस(संपा0); *नई सदी की पहचान श्रेष्ठ दलित कहानियॉ, लोकभारती प्रका"ान, नई दिल्ली,2008।*

12. शम्भुनाथ; *भारत की अवधारणाः उत्तर–गांधीय परिदृ"य पर विचार* , वाणी प्रका"ान, नई दिल्ली, 2020।
13. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (संपा0); *कौन हैं भारत माता? इतिहास, संस्कृति और भारत की संकल्पना, जवाहरलाल नेहरु क `लेखों और उनके बारे में लेखों का एक चयन,* राजकमल प्रका"ान, नईदिल्ली, 2021।
14. टंडन, बि"ान; *आपातकालः एक डायरी, खण्ड–01,* वाणी प्रका"ान, नई दिल्ली, 2018।
15. टंडन, बि"ान; *आपातकालः एक डायरी, खण्ड–02,* वाणी प्रका"ान, नई दिल्ली, 2006।